

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१८०, वर्ष-१६, सितम्बर-२०१२

भादो सुद ६, शुक्रवार, दि.८-९-१९७८, वचनामृत-२२३ पर  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - ८८

शुद्धात्मा में स्थिर होना वही कार्य है, वही सर्वस्व है. स्थिर हो जाना ही सर्वस्व है, शुभ भाव आये परंतु वह सर्वस्व नहीं है। २२३॥

२२३ वा बोल है। 'शुद्धात्मा में स्थिर होना वही कार्य है,...' क्या कहते हैं ? आहा..हा..! शुद्ध आत्मा चैतन्य, उसमें दृष्टि जमाकर स्थिर होना वही कार्य है। आहा..हा..! चैतन्य की ऐसी झंखना चाहिये कि चैतन्य बिना कहीं कुछ ठीक नहीं लगता। मेरी चीज जो भगवानआत्मा, चैतन्यस्वरूप भगवान,.. 'सखी मने देखन दे, चंद्रप्रभु मुख चंद, सखी मने देखन दे...' आहा..हा..! शुद्ध परिणतिरूपी सखी, उसको आत्मा कहते हैं कि अहो..! सखी मेरे चंद्रप्रभु। चंद्रप्रभु लिये हैं लेकिन चंद्रप्रभु (माने) आत्मा। शीतलनाथ, शीतलस्वरूप चेतन, मुझे देखन दे। मुझे दूसरी कोई चीज नहीं चाहिये। आहा..हा..! समझ में आया? चैतन्य के दर्शन करने की झंखना, जिसे अंदर झंखना है... आहा..हा..! कोई चीज मुझे पसंद, रुचि में नहीं आती। आहा..हा..! प्रभु! तेरा दर्शन मुझे देखने दे। आहा..हा..! ऐसी बात है, प्रभु! आहा..हा..!

एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रियपने में प्रभु! तुझे कहीं नहीं देखा। आहा..हा..! अरे..! अनंतबार मुनिपना लिया, लेकिन तेरा दर्शन नहीं हुआ, नाथ! तो चैतन्य का एकबार दर्शन करने को दे। आहा..हा..! दूसरी सब झंझट छोड़कर... आहा..हा..! धर्मी जीव को... आहा..हा..! चैतन्य(का) अनुभव करने में जिसकी लगनी लगी है। आहा..हा..! दुनिया मान दे, न दे उसके साथ कोई संबंध है नहीं। दुनिया गिनती में गीने कि यह एक धर्मी हैं, वह कोई चीज नहीं। आहा..हा..! मेरा चैतन्यभगवान, उस पर दृष्टि करने से प्राप्त होता है तो सखी मेरी दृष्टि स्वभाव पर करने दे। आहा..हा..! जगत के शरीर के प्राण भी भले जाये... आहा..हा..! मेरा चैतन्य भावप्राण मेरी दृष्टि में आओ और चैतन्यभाव प्राण का मुझे दर्शन हो, यही धर्मी की भावना होती है। आहा..हा..! समझ में आया?

'शुद्धात्मा में स्थिर...' भगवान... आहा..हा..! क्रियाकांड सब रागादि हो उससे मुझे क्या लाभ है ? आहा..हा..! मैं तो भगवान पूर्णस्वरूप शुद्ध चैतन्य, धर्मी की दृष्टि में शुरूआत में... आहा..हा..! राग में तो नहीं लेकिन पर्याय में भी रुकना नहीं। आहा..हा..! भाई! मार्ग तो ऐसा अलौकिक है। आहा..हा..! अंतर स्वरूप भगवान, उसमें दृष्टि देना और भगवान चैतन्य से भेट करना... आहा..हा..! प्रभु! मैंने राग और पुण्य-पाप का भेटा अनंतबार किया, वह तो परिभ्रमण का कारण हुआ। आहा..हा..! समझ में आया?

भगत को आत्मा की भक्ति अन्दर से उठती है। आहा..हा..! यह बात है, भाई! सारी दुनिया छोड़कर,



मेरा भगवान पूर्णानंद प्रभु! वह मुझे मिल जाये, और उसका मुझे भेटा हो... आहा..हा..! यह तुम्हारे रुपये-रुपये तो कहीं धूल में रह गये। आहा..हा..! अनंतकाल में चैतन्य भगवान, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, प्रभु! उसका मिलन हो जाये, और वह मिलने के बाद स्थिर हो जाना... आहा..हा..! यह शुद्धात्म का कर्तव्य है। समझ में आया? भाई! मार्ग कोई अलौकिक चीज है। आहा..हा..! चैतन्य जागृत स्वभाव का पिण्ड, प्रभु! चैतन्यरत्नाकर समुद्र-दरिया, उससे भेंट करके अंदर स्थिर हो जाना। यह है। समझ में आया?

‘स्थिर होना वही कार्य है,...’ आहा..हा..! पर का तो कार्य नहीं करना है, लेकिन दया-दान का कार्य वह भी मेरा कार्य नहीं, प्रभु! मैं तो ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यस्वरूप हूँ। आहा..हा..! मेरा कार्य तो शुद्धात्मा प्रभु, उसमें रहना वह मेरा कार्य है। आहा..हा..! मेरे निजघर में वास करना। स्थिर... स्थिर... है न? निवास करना। आहा..हा..! अनादि से पुण्य-पाप और पर्याय में वास लिया, प्रभु! वह तो मिथ्याबुद्धि थी। आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! चैतन्यप्राण... पहली जीवत्वशक्ति ली न? उसमें चैतन्य ज्ञान, दर्शन, आनन्द, सत्ता, प्राण, जो त्रिकाली प्राण... आहा..हा..! वह प्राण से जिसका जीवन है, ऐसे जीव की भेंट करना। ऐसी बात है, भाई! यह सम्यग्दर्शन कैसे होता है उसकी बात चलती है। आहा..हा..! सम्यक् नाम सत्यदर्शन। आहा..हा..! दूसरे कहते हैं वह नहीं, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो सर्वज्ञस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी त्रिकाली वस्तु... आहा..हा..! उसमें दृष्टि करके और स्थिरता करके लीन होना... आहा..हा..! यही शुद्धात्मा का कार्य है। लोगों को इसमें एकान्त लगता है कि कुछ साधन चाहिये न? कोई कार्य करना, राग आदि, मंद आदि, भक्ति आदि करे। अरे..! प्रभु! वह तो राग है न, प्रभु! राग के अवलंबन से शुद्धात्म का अवलंबन होता है? आहा..हा..! चैतन्यघन वीतरागमूर्ति, प्रभु! उसकी तो वीतराग शुद्धउपयोग से भेंट होती है। समझ में आया? वह उपर आ गया है। ‘उपयोग की आत्मा में ही प्रतिष्ठा करते हैं।’ है न? शुद्धोपयोग २२१ में आ गया। आहा..हा..!

शुभ-अशुभराग, उसको छोड़कर, पर तो छोड़ना है ही नहीं, पर तो भिन्न ही है। आहा..हा..! शरीर, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि पर चीज को छोड़नी कहाँ हैं, वह तो भिन्न ही हैं। आहा..हा..! समझ में आया? वह तो भिन्न ही है। तेरे पास आयी नहीं और तेरी है नहीं। आहा..हा..! तेरे में जो पुण्य और पाप आदि के भाव हैं, वह तेरी पर्याय के पास है। आहा..हा..! और वह तेरी पर्याय में है। आहा..हा..! उसको भी छोड़कर... आहा..हा..! भगवान चैतन्य स्वभाव में, चैतन्यमूर्ति प्रभु स्वयंभू, अनंत अनंत गुण का रत्नाकर, भाई! उसमें मुझे रहने दो। ऐसा प्रभु को, आत्मा को कहते हैं, हाँ! आहा..हा..! ऐसी बातें लोगों को कठिन लगे। कोई बाहर का साधन हो और इससे हो, उससे हो... आहा..हा..!

(वर्तमान में) तो कोई ऐसे निकले हैं, जैनधर्म में आया था। ‘कौशल्य’ (नामकी) एक ब्रह्मचारी स्त्री है। सब धर्म में एक ही बात की है यथार्थ, बस। अरे..! प्रभु! क्या कहते हो? भाई! जिसमें सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा नहीं और जिसमें सर्वज्ञ प्रगट पर्यायवाला आत्मा नहीं... आहा..हा..! वहाँ सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की बात कौन कर सकते हैं? समझ में आया?

यहाँ सर्वज्ञस्वभाव आत्मा, वस्तु स्वभाव ही सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है, ऐसा जिसमें नहीं, और जिसमें सर्वज्ञस्वभावी पर्याय प्रगट हुई, क्योंकि सर्वज्ञ स्वभाव है। आहा..हा..! इसमें स्थिर होना वह कार्य है। स्थिर होते हैं उसको सर्वज्ञपना हो जाता है। आहा..हा..! ऐसा सर्वज्ञ हुआ, उन्हें जो जानने में आया, और उनकी वाणी में जो आया, कि तुम वीतरागमूर्ति, सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु तुम हो। आहा..हा..! ऐसी बात श्रुत में कभी आयी नहीं। ऐसा चौथी गाथा में आता है न? श्रुत, परिचित, अनुभूता। भगवान! शुभराग की क्रिया भी अनन्तभार परिचय में आयी और सुनने में भी आयी, अनुभव में भी आयी... आहा..हा..! लेकिन मेरा नाथ, अन्दर चैतन्य आनन्द का नाथ अनुभव में न आया, प्रभु! आहा..हा..! समझ में आया? सर्वज्ञ ने कहा और सर्वज्ञ हुआ, तो सर्वज्ञ स्वभावी है, उसमें से सर्वज्ञ हुआ। आहा..हा..! भाई! यह बात कहाँ है? समझ में आया?

यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के मार्ग में जो कहा, यह वस्तु और कहीं है नहीं। जहाँ ऐसा भी निर्धार नहीं... समझ में आया? क्या कहते हैं?

एक समय में तीनकाल, तीनलोक ज्ञान की पर्याय जानती है, जानने में आ जाता है। आहा..हा..! ऐसी पर्याय जिसको प्रगट हुई, क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा है। आहा..हा..! स्वभाव में स्थिर होकर, शक्तिमें से व्यक्तता प्रगट की.. आहा..हा..! ऐसे सर्वज्ञ भगवान, उनकी वाणी में यह आया। आहा..हा..! प्रभु! तुम शुद्धात्मा हो न! हमने जैसा प्रगट किया तुम ऐसी चीज हो। आहा..हा..! हमारी नात के, जात के तुम आत्मा हो, भाई! आहा..हा..! हमारे में पर्याय प्रगट हुई, तेरे में स्वभाव-शक्ति परिपूर्ण भरा है। आहा..हा..!

सात तत्त्व का निर्णय करते हैं लेकिन एक आत्मा का निर्णय अन्दर आना.. आहा..हा..! 'भूदत्थेणाभिगदा' आ गया? १३वीं गाथा। चैतन्य ज्ञायक भगवान परमानन्द, प्रभु! आहा..हा..! ऐसी लगनी लगे की जिसमें स्थिर हो जाना। आहा..हा..! समझ में आया? यह बात है यहाँ। आहा..हा..!

'वही सर्वस्व है।' देखो! आहा..हा..! सर्वस्व। भगवान पूर्णानन्द प्रभु! उसकी दृष्टि लगाकर, उसमें स्थिर होना ही सर्वस्व है। आहा..हा..! बारह अंग में भी अनुभूति करने को कहा है। 'कलश टीका'में ऐसा आया है। आहा..हा..! बोलना यह क्या? विकल्प क्या चीज है? आहा..हा..! शास्त्र का ज्ञान भी क्या चीज है?

मुझे तो अन्दर ऐसा आ गया था कि शास्त्रज्ञान है वह परद्रव्य है, वह स्वद्रव्य नहीं। आहा..हा..! यदि परद्रव्य न हो तो उसमें आनन्द आना चाहिये। परद्रव्य कहा है तो दुःख है तो वह परद्रव्य है। आहा..हा..! समझ में आया? 'नियमसार' में पर्याय को परद्रव्य कहा वह दूसरी चीज। वहाँ तो निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा। आहा..हा..! लेकिन यहाँ तो शास्त्र का ज्ञान और राग की मंदता का महाव्रतका भाव... आहा..हा..! वह स्वद्रव्य में नहीं, इसलिये परद्रव्य है। आहा..हा..! परद्रव्य का लक्ष्य, अवलंबन छोड़कर... आहा..हा..! मैं तो शुद्धात्मा हूँ। आहा..हा..! उसमें सर्वस्व आ जाता है। आहा..हा..! समझ में आया?

'स्थिर हो जाना ही सर्वस्व है,...' आहा..हा..! चैतन्य, चैतन्यदल वस्तु, उसमें दृष्टि करके स्थिर हो जाना... आहा..हा..! वही सर्वस्व है। वही सर्वस्व, वही कर्तव्य है। लोगों को कठिन लगे। क्या करें? करना तो यह है। उसके बिना संसार का कभी अंत नहीं आयेगा, प्रभु! बाहर से जाने की हम सुखी हैं, पैसा, इज्जत, कीर्ति... धूल में भी नहीं है, भाई! आहा..हा..! शास्त्र का ज्ञान करके मानना कि मैं सुखी हूँ। वह भी मिथ्यात्वभाव है। आहा..हा..!

इसलिये यहाँ कहा कि शुद्धात्मा में स्थिर होना। आहा..हा..! तु अनादि से यहाँ अटक गया है, प्रभु! आहा..हा..! शुभभाव आया, शास्त्रज्ञान हुआ, पंच महाव्रत आया, बाहर मुनिपना लिया, मुनिपना बाहर लिया, लेकिन मुनिपना हुआ नहीं। आहा..हा..! मुनिपना कब होता है? शुद्धात्मा की दृष्टि करके अन्दर स्थिर होना, तब मुनिपना होता है। मुनिपना ले लेना, बनना अलग चीज है और मुनिपना होना दूसरी चीज है। आहा..हा..!

'शुभभाव आये...' आहा..हा..! अशुभ की तो बात यहाँ छोड़ दी। दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, शास्त्र वांचन, शास्त्र सुनना... आहा..हा..! ऐसे 'शुभभाव आये परन्तु वह सर्वस्व नहीं है।' ये कोई चीज सर्वस्व आत्मा नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? सर्वस्व नहीं। सर्व स्व नहीं। वह पर है। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं।

हाथी के बाहर के दांत अलग है, ऐसा लेख है। वर्तमान में कोई 'कानजीस्वामी' के भक्त दिखते हैं। कोई मुनि के भक्त दिखते हैं, लेकिन महावीर को भूल गये हैं, ऐसा लिखा है। अरे...! प्रभु! उसको ऐसा है कि अनेकान्त होना यह महावीर का धर्म है। आहा..हा..! व्यवहार से भी धर्म होता है, निश्चय से भी होता है, निमित्त से भी होता है, उपादान से भी होता है। आहा..हा..! वह अनेकान्त है। भगवान! आहा..हा..! स्व की अस्ति और पर की नास्ति उसका नाम अनेकान्त है। अनेक धर्म कब कहने में आता है? कि स्व की अस्ति और पर की नास्ति... आहा..हा..! उसका नाम अनेकान्त (है)। यहाँ बात ऐसी आती है न कि व्यवहार से लाभ नहीं होता है। तो एकान्त

है। अरे..! प्रभु! सम्यक् एकान्त है। आहा..हा..! शुभभाव आया लेकिन उसको छोड़कर, शुद्ध भगवान अंदर पूर्णानंद का नाथ बिराजता है न... आहा..हा..! वहाँ नजर करो न, प्रभु! आहा..हा..! नजर बाहर घूमती है... आहा..हा..! जहाँ निधान भगवान पड़ा है वहाँ नजर

कर ना। आहा..हा..! वह सर्वस्व है। आहा..हा..! दुनिया मानो न मानो, दुनिया में सत् की संख्या हो न हो। लेकिन सत्य तो यह है। आहा..हा..!

‘शुभभाव आये परन्तु वह सर्वस्व नहीं।’  
आहा..हा..! २२३ बोल (पूरा) हुआ। आहा..हा..!

### (पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन)

चुनने का प्रयोजन इतना ही है। यह जो पंक्ति आयी है, इसमें पूरे बोल की ताकत पड़ी है।

कहते हैं कि तू देख तो सही। तेरे अनुभव को देख तो सही, अवलोकन कर तो सही। यह अनुभव की पद्धति है। समझ भी अनुभव को पकड़कर समझने की पद्धति है वह अनुभवपद्धति है। कि देख तो सही राग की दिशा कौन सी है? कि राग की दिशा पर तरफ है और ज्ञान की दिशा स्व-तरफ है। देख, जरा देख! पहले तो ऐसा कहेंगे। सयानापन तो है न? पंचेन्द्रिय और मन दो मिले। मन मिलने पर थोड़ी सुबुद्धि आती है। तो क्या कहेंगे? कि राग तो ठीक है पर तरफ ही है। क्योंकि पर विषय तरफ का राग है, आकर्षण है। परन्तु ज्ञान भी हमारा तो इन्द्रियज्ञान है। हमारे पास तो इन्द्रिय ज्ञान है और इन्द्रियज्ञान पर की ओर प्रवर्तता है हमारा। चक्षु इन्द्रिय से रूप को देखते हैं, कर्णेन्द्रिय से शब्द को सुनते हैं। ज्ञान भी पर तरफ है। और आप यहाँ ऐसा कहते हो कि ज्ञान की दिशा स्वतरफ है। यह बात समझ में नहीं आयी। बहुत मुद्दे का विषय है। ऊपर-ऊपर से यह बात समझ में नहीं आयेगी। आपको ऐसा लगेगा कि ज्ञान की

दिशा तो पर तरफ है और यहाँ ज्ञान की दिशा स्वतरफ है यह बात कहाँ से आयी?

जब तुने राग और ज्ञान को मिश्रित किया है तब तो तेरी यह परिस्थिति तुझे लगी है। मिश्रित किये है, इसमें यह परिस्थिति लगी है। परन्तु हम तुझे कहते हैं कि, जरा धैर्य से अंतर अवलोकन कर। राग की दिशा पर तरफ है और ज्ञान की दिशा स्वतरफ है।

मुमुक्षु :- मिथ्यादृष्टि...

पूज्य भाईश्री :- फिर मिथ्यादृष्टिपना नहीं रहेगा। तुझे क्या स्थापित करना है? मिथ्यादृष्टि को स्थापित करना है? कि, तेरा मिथ्यादर्शन मिट जायेगा इसमें, ऐसा कहना है। देखो! कोई ज्ञान की क्रिया स्थिर नहीं है। इस प्रश्न में तुने ऐसा स्थापित किया कि, ज्ञान तो पर तरफ है मतलब ध्रुव पर तरफ है ऐसा स्थापित किया। इसमें तो तुने ज्ञान की ध्रुवता स्थापित की। पर तरफ ज्ञान कायम है ऐसा स्थापित किया। जबकि वह तो प्रतिसमय पलटता है। परन्तु ज्ञान में जरा देख तो सही कि ज्ञान में क्या है? कि ज्ञान में ज्ञान है। ज्ञान में ज्ञान है मतलब क्या? कि ज्ञान में ज्ञेय नहीं है इसका मतलब ज्ञान में ज्ञान है। (विशेष लेंगे)।

### (श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

हुए हैं, यह दशनिके लिए, जगतको, जगतकी विचित्रताओंको वीतरागभावसे देख रहे हैं। कहीं पर भी हर्ष-शोकका कारण सम्यक्ज्ञानको नहीं है, ऐसा निर्देश उक्त वचनामृतमें अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। ज्ञानदशाकी शुरूआतके पहले ही पत्रमें उक्त थोड़े वचनोंमें-स्वयंकी द्रव्यदृष्टि, सम्यक्ज्ञानस्वरूप दशा, वीतरागी समभाव, पूर्ण सिद्धपदकी अभिलाषा इत्यादि सम्यक्दर्शनके अंगभूत भावोंकी अभिव्यक्ति अति भाववाही और असाधारण शैलीमें आलेखित मालूम पड़ती है।

पत्रकी भाषा - शैली इतनी असाधारण है कि भाषाके विषयमें पारंगत विद्वान भी आश्चर्यका अनुभव करे - ऐसी शैली है; जिसकी प्रशंसाके लिए खोजने पर भी शब्द नहीं मिलते हैं।



**श्री परमागमसार वचनामृत-३४८ पर  
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,  
प्रवचन नं.१७१ (दि.३१-८-१९८३, भावनगर)**

‘समयसार’की १७-१८ गाथा में मोक्षार्थी आत्मा कैसा होता है इस विषय पर पूज्य ‘गुरुदेवश्री’का इसमें विवेचन है। ‘मोक्षार्थी पुरुष याने?—कि अनन्त-सुख प्राप्ति और अनन्त दुःख के व्यय का अर्थी।’ जिस आत्मा को तनिक भी दुःख या तनिक भी दोष नहीं चाहिये और परिपूर्ण निर्दोषता व परिपूर्ण सुख की अभिलाषा हो उसे यहाँ पर मोक्षार्थी कहा गया है। दोष और दुःख के बीच अविनाभावीपना है। निर्दोषता और सुख के बीच अविनाभावी संबंध है। पूर्ण सुख, कल्पना में आया पूरा सुख, कल्पित सुख भी पूर्ण, इसे तो जगत के सारे जीव चाहते हैं ही। किसीको दुःख चाहिये यह तो सवाल ही नहीं है। लेकिन साथ में दोष को छोड़ना नहीं है, दोष का अभाव करना नहीं है। दोष को करते रहना है, दोष का पालन करना है, पुष्टि करनी है, दोष का अभिप्राय मजबूत है, अनादि से जैसा का तैसा मजबूत है और सुख की अभिलाषा रखता है, यह बात कतई बननेवाली नहीं है, अशक्य है और असंभवित है।

सुख का निर्दोषता के साथ संबंध है और यह सुख जो है वह जगत का भौतिकसुख या दैहिकसुख नहीं है, इन्द्रियजनित सुख नहीं परन्तु यह सुख आत्मिक अतीन्द्रिय सुख है जिसका संबंध निर्दोषता के साथ है। वास्तव में तो इसका संबंध राग-द्वेष के अभाव के साथ है। ऐसा जो पुरुष है इसकी बात है। ऐसा जो आत्मा है कि, जिसे ऐसे निर्दोष सुख की अभिलाषा है। ‘श्रीमद्जी’ ने भी १५ वर्ष की उम्रमें यह गाया है, ‘निर्दोष सुख निर्दोष आनंद ल्यो गमे त्यांथी भले, ए दिव्यशक्ति मान जेथी जंजीरेथी नीकळे’ दोष की जंजीर है, दोष की हथकड़ी है, बेड़ी है इससे छूटे और निर्दोष सुख

का अनुभव करे। यानी प्रथम उस लौकिक सुख का तो निषेध कर दिया कि, ‘लक्ष्मी अने अधिकार वधता शुं वध्युं ते तो कहो’ जिसे लोग सुख कहते हैं इसकी कीमत तो पहले उड़ा दी। पैसा और सत्ता दोनों में सुख है, कुटुम्ब-परिवार में सुख है यह बात तो पहले से cancel कर दी है। उस बातमें तो कोई दम ही नहीं है। इससे तो दुःख बढ़नेवाला है, कम भी होनेवाला नहीं है तो नष्ट होने का तो सवाल ही नहीं है। कम तो नहीं होगा, बढ़नेवाला है। और संसार परिभ्रमण में ये सब निमित्त हैं। उपादान में भाव अपना है। वहाँ से जिसको पलटकर अनन्तानन्त सुख, अनन्त-अनन्त परिपूर्ण निर्दोषता चाहिये, किंचित्मात्र दोष का कण भी नहीं चाहिये वह मोक्षार्थी है। यह प्रथम शर्त है, फिर आत्मज्ञान की बात है। इसके पहले कोई आत्मज्ञान को जानने का प्रयत्न करेगा, यानी कि दोष का अभिप्राय बना रहे और आत्मा को जानने का प्रयत्न करे, तो भी आत्मा को जानने का उसका प्रयत्न सफल नहीं होता, वह प्रयत्न निष्फल जाता है।

मुमुक्षु :- आत्मा को जानने के बाद दोष का अभिप्राय टले या दोष का अभिप्राय टालने के बाद आत्मा को जाने ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, प्रथम जीव को निर्दोष, परिपूर्ण निर्दोष होना है ऐसा ध्येय बाँधना चाहिये। बहुत Practical side उसकी विचार करने जैसी है कि, कोई जीव आत्मज्ञान की प्राप्ति के पूर्व तत्संबंधित विचारधारा से गुजरता है। इसलिये ‘श्रीमद्जी’ने कहा कि, ‘विचारदशा के बिना ज्ञानदशा नहीं होती’ यानी जीव की जो विचारणा चलनी चाहिये वह चलेगी कि नहीं यह एक सवाल है। क्योंकि पूर्वसंस्कार अनेक पड़े हैं।

अनादि से ऐसे संस्कार धारण करके बैठा है कि, उसे भौतिक सुख, दैहिक सुख चाहिये। बहुत सी समस्याएँ हैं, अनेक प्रकार के असमाधान खड़े हैं, जगत में ये सब ऐसा क्यों हो रहा है? जितने भी प्रसंग बनते हैं कहीं भी जीव को समाधान नहीं होता। क्योंकि वस्तुव्यवस्था का पता नहीं है। साथ ही साथ इच्छाओं की आकुलताएँ मौजूद हैं। इच्छाओं की ज्वालाएँ ऐसी हैं कि जैसे अग्नि की ज्वालाएँ हो। किसी भी तरह शांत हो ऐसा संभव नहीं है। आत्मिक शांति की उत्पत्ति बिना परिणाम में ये सब प्रकार शांत होने की कोई स्थिति नहीं है। अब, ऐसी-ऐसी स्थिति में टिकना, इसके लिये कोई आधार तो जीव को चाहियेगा न!

प्रायः लोग कहते हैं कि, यह स्वाध्याय करने बैठे और घर के विचार आने लगते हैं, स्वाध्याय करने बैठे हो कि, दुकान के विचार आने लगते हैं, स्वाध्याय करते समय दूसरे-दूसरे विचार आ जाते हैं। इसका कारण क्या है? हम तो यह पूछते हैं कि दूसरे कार्य करते-करते आपको आत्मा के विचार क्यों नहीं आते? जबकि बजाय इसके यहाँ स्वाध्याय में आत्मा का विचार करने बैठे हो तब दूसरे विचार आपको आने लगते हैं, तो इसकी वजह क्या है? तो कहते हैं कि, परिणाम की जो दिशा है उसे पलटने के लिये एकबार आपको कहाँ जाना है यह नक्की करना होगा। आत्मज्ञान करना है तो क्यों करना है? यह प्रश्न है।

प्रथम आत्मज्ञान करना है ऐसा कहते हैं। परन्तु तुझे आत्मज्ञान क्यों करना है? यह सवाल है। एकदम Practical side है। तू दूसरे क्षेत्र से इस क्षेत्र में आया। दुनियादारी के क्षेत्रमें से धर्म का क्षेत्र जो कहलाता है ऐसे एक क्षेत्र में तुने प्रवेश किया है, तो नक्की तेरा कोई ध्येय तो होना ही चाहिये। कोई न कोई ध्येय होना ही चाहिये। उसे यहाँ आचार्य महाराज ऐसा कहते हैं कि, अगर तेरा ध्येय मोक्ष का है, तो तेरा आत्मज्ञान विषयक, आत्मा को जानने का प्रकार सफल होगा। अगर तेरा ध्येय मोक्ष का नहीं है, तो आत्मा को जानने का तेरा प्रकार सफल होने का कोई अवसर ही नहीं है, बन ही नहीं पायेगा। यह परिस्थिति है।

बात यहाँ से सैद्धांतिकरूप से खीटें से बाँधी है। एकदम सुनिश्चित की हुई बात है। सूत्रकर्ता आचार्य महाराज ने मूल गाथा में इस विषय को लिया है कि, मोक्षार्थी को ऐसा करना। अगर तू मोक्षार्थी नहीं है तो ऐसा करने को कहने की भी हमें कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिये तो पीछे...

मुमुक्षु :- यहाँ बैठे-बैठे दूसरे विचार आते हो तो इसका मतलब कि, हमने ध्येय सुनिश्चित नहीं किया।

पूज्य भाईश्री :- तेरा ध्येय सुनिश्चित नहीं हुआ। तेरा ध्येय सुनिश्चित होता तो दूसरे काम करते हुए भी तुझे ये विचार आ जाते। पूरा Platform बदल जायेगा। तू संसारार्थी है और उस Platform पर खड़ा हो इसलिये यहाँ स्वाध्याय के विचार करते-करते उपयोग बाहर चला जाता है। अगर तेरा ध्येय मोक्षार्थी का होता तो उदय के कार्य करते-करते तेरा झुकाव आत्मा की तरफ हो जाता। तुझे ऐसे विचार आते कि, यह मैं क्या करता हूँ? क्यों खाता हूँ? क्यों कमाई करता हूँ? क्यों कमाने के लिये जाता हूँ? ऐसा क्यों करता हूँ? वैसा क्यों करता हूँ? इसके पीछे मेरा ध्येय क्या है? ध्येय अगर अग्रता में रहेगा तो तेरी सर्व किया सार्थक है, इसलिये तो 'श्रीमद्जी'ने लिखा कि, खाना है तो आत्मार्थ हेतु, बोलना है तो आत्मार्थ, उठना है तो आत्मार्थ, बैठना है तो आत्मार्थ (वैसे) कितने बोल लिये है। आत्मार्थ मतलब आत्मा के हित के लिये अर्थात् कल्याण हेतु यानी कि मोक्ष हेतु। एक ही बात है।

मुमुक्षु :- आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् धून चलती रहनी चाहिये न?

पूज्य भाईश्री :- ऐसे नहीं। पहले धून चलती है। प्रथम ध्येय सुनिश्चित करने पर ऐसा प्रकार उत्पन्न होता है। वरना तो पढ़ते-पढ़ते और सोचते-सोचते उपयोग छिटक-छिटककर कहाँ का कहाँ चला जायगा। जबकि, आपने अगर ध्येय सही रूप में सुनिश्चित किया होगा तो सर्व क्रिया में आपको ध्येय अग्रताक्रम में रहेगा।

ध्येय एक ऐसी चीज है कि अग्रता को धारण करता है, मुख्यता धारण करता है। आगे रहता है सर्व क्रिया में वह आगे रहता है। यहाँ भी इसका ध्येय

क्या? ध्येय के साथ संबंध क्या? प्रयोजन से इसका संबंध क्या? बस! फिर आप सब प्रयोजन की सिद्धि हेतु करेंगे। प्रयोजन को भूलकर, विस्मरण करके कुछ नहीं करेंगे। ऐसे मोक्षार्थी को आत्मा का ज्ञान करना, ऐसा कहते हैं। किस प्रकार करना इसकी विधि तो अब आगे आयेगी। परन्तु ऐसे मोक्षार्थी को आत्मा को जानना देखिये। स्पष्ट कहा है कि नहीं? कि, मोक्षार्थी पुरुष को आत्मा को जानना। ऐसा ही कहा है कि कुछ और कहा है? आचार्य महाराज की यह गाथा में ठौरसे बात आयी है कि नहीं? कि नहीं? अब इसका अर्थ यहाँ Practical जीवन में, परिणामन में किसतरह लागू पड़ता है? बस इतना ही विचार करना है। कहा है जो उसमें तो रंचमात्र फेरफार नहीं है। इसमें कोई अन्यथा बात का अवकाश नहीं है।

सूत्र सिद्धांत में जो कहा है, वह बात तो प्रतिक्षण आत्मा में डूबकर, अनुभव में कलम डूबो-डूबोकर लिखा गया है। यह कलम कौन सी है? कि, अनुभव में डूबोई हुई कलम है। इसमें तो तनिक भी अन्यथा होना असम्भव है। अब कैसे यह वास्तविकतामें ले आना इतना ही विचार करना चाहिये।

इतना ही नहीं इसका कारण है कि, कुछएक जीवों को धर्म के क्षेत्र में आते हैं तब जगत में आबरू बढ़ानी होती है कि मैं धर्मी हूँ, मैं धर्म की क्रिया करनेवाला हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं साधु हूँ, मैं आचार्य हूँ, मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा श्रावक हूँ। जो भी जिसकी कल्पना हो, जगत की आबरू का सवाल होता है वह उसका ध्रुव काँटा (है)। जिसे ध्रुवकाँटा कहा है। वह ध्रुवकाँटा उसका कहाँ है? कि, लोकदृष्टि जिसका ध्रुवकाँटा है। लोग पर जिसकी दृष्टि है। लोग मुझे कैसा देखेंगे? लोग मुझे कैसा देख रहे हैं? अभी मुझे कैसा देख रहे हैं और मुझे भविष्य में कैसा देखेंगे? यानी कि उसकी सर्व क्रियाएँ खुद को अच्छा दिखाने के लिये हैं। अच्छा दिखाने के हेतु से है आत्मा के कल्याण हेतु नहीं। दूसरों की नजर में अच्छा बने रहने के लिये यह कार्य करता है। आत्मा के कल्याण के लिये करना है वह बात फिर नहीं रहती। उसे अभिनिवेश कहा है। शास्त्र

में अभिनिवेश नामका शब्द है। अभिनिवेश दो प्रकार के होते हैं। एक लौकिक अभिनिवेश और दूसरा शास्त्रीय अभिनिवेश। ठीक!

मुमुक्षु :- शास्त्रीय अभिनिवेश! अभिनिवेश शब्द सुना है परन्तु शास्त्रीय अभिनिवेश?

पूज्य भाईश्री :- नहीं सुना है? 'श्रीमद्जी' में तो एकदम स्पष्ट लिखा है। 'श्रीमद्जी' के ग्रंथ में तो यह शब्द एकदम स्पष्ट आया है। लौकिक अभिनिवेश और शास्त्रीय अभिनिवेश। जिसको लोकदृष्टि है, लोग मुझे अच्छा जाने उसे लौकिक अभिनिवेश कहते हैं। प्रायः सर्व संसारी मनुष्यों का ऐसा प्रकार होता ही है। फिर इसमें कोई शरीर की सुंदरता द्वारा अच्छा दिखाना चाहता है, कपड़े-गहने द्वारा अच्छा दिखाना चाहता है, मकान द्वारा अच्छा दिखाना चाहता है, मकान में सजाये मोटर, गाड़ी, फर्नीचर इत्यादि से अच्छा दिखाना चाहता है, पैसे से अच्छा दिखाना चाहता है। दानादि प्रवृत्ति से अच्छा दिखाना चाहता है, व्यापार-धंधा कारखाना द्वारा अच्छा दिखाना चाहता है। जगत में जिस-जिस चीज से बड़प्पन माना गाय है, ऐसी सर्व प्रकार से बड़प्पन दिखाना है, ये सारे प्रकार लौकिक अभिनिवेश में जाते हैं। जो-जो चीजवस्तु जगत में महिमावंत मानी गयी है उससे अपनी महिमा मनवाना, वह सब लौकिक अभिनिवेश में जाता है। और ये सब के अलावा शास्त्रज्ञान द्वारा जिसे अपनी महिमा दिखानी है वह शास्त्रीय अभिनिवेश में जाता है। मुझे ज्ञान बहुत है, वह शास्त्रीय अभिनिवेश में जाता है। ज्ञानी ने किसी भी अज्ञानी को नहीं छोड़ा है। क्योंकि उन्हें तो सर्व प्रकार का अज्ञान छुड़ाना है। शास्त्रीय अभिनिवेश में भी दो प्रकार हैं प्रशस्त और अप्रशस्त यह तो पता है कि नहीं? नहीं पता! 'ज्ञानामृत' में तो बहुत स्पष्ट है। पूरा विषय लिया है। इसी से ले लें।

प्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश तो वह है, कि जिसमें शास्त्रसंबंधित मान होते समय कषाय बहुत तीव्र न हो। कषाय की मंदता रहा करे। फिर भी शास्त्रज्ञान के क्षयोपशम की मुख्यता हो। और उसे दिखाने का, इससे अपना बड़प्पन दिखाने का भाव रहा करे। वह प्रशस्त

शास्त्रीय अभिनिवेश है। और एक अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश का प्रकार है उसमें प्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेशवाले भी कितने ही भूल कर बैठते हैं। जो सूक्ष्म भूल जीव को ख्याल में नहीं आती बल्कि प्रशस्त का प्रकार पलटा खाकर अप्रशस्त में चला जाता है। अहितकारी अभिनिवेश होता है। वह यहाँ पत्रांक-६६१ में है।

मुमुक्षु :- शास्त्र का आधार लेकर अपने को...

पूज्य भाईश्री :- नहीं। वह तो बहुत अच्छा विषय है। पत्रांक संख्या ६६१ है। वह स्वच्छंद के भेद में है। २९वाँ वर्ष है। और मुमुक्षुता की भूमिका में स्वच्छंद नाम का एक महादोष है जिसका एक भेद यह अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है।

यहाँ पर शास्त्रीय अभिनिवेश की सामान्य परिभाषा ऐसी की है कि, 'आत्मार्थ के सिवाय...' मोक्षार्थ के अलावा। आत्मार्थ के सिवा या मोक्षार्थ के सिवा। यहाँ इस प्रत में ५० नंबर का पन्ना है। ६६१ मेरी प्रत में। पुरानी प्रत है। ५० नंबर का पन्ना है। 'आत्मार्थ के सिवाय...' यानी यह मोक्षार्थ का जो Point चलता है वह। 'आत्मार्थ के सिवाय जिस-जिस प्रकार से जीवने शास्त्र की मान्यता करके...' अथवा शास्त्र पढ़कर ज्ञान जो मिला इससे 'कृतार्थता मानी है।' संतोष माना कि हाँ, इतना तो मिला। पहले विश्वास नहीं था अब विश्वास होता है। ठीक! चलो इतना तो अपने हाथ लगा, इतना तो मिला। ऐसे कृतार्थता करली। दो बोल लिये हैं। मान्यता कर ली। आत्मार्थ के बिना शास्त्र की समझरूप मान्यता की। शास्त्रों को मानता हूँ ऐसी मान्यता की कि वीतराग शास्त्रों को मैं मान्य करता हूँ, अन्य को नहीं। परन्तु उसमें जीव का आत्मकल्याण के बजाय अन्य हेतु होता है (कि) मैं तो समझता हूँ परन्तु अब मुझे दूसरों को समझाना है। तो तेरा हेतु बदल गया ऐसा कहते हैं। तेरा प्रयोजन बदल गया। कृतार्थता कर ली, कि ठीक है। इतना तो आता है, इतनी तो समझ है। पहले नहीं समझ आता था अब तो समझ में आता है। 'वह सर्व शास्त्रीय अभिनिवेश है।' इतना अर्थ किया है।

'स्वच्छंदता दूर नहीं हुई और सत्समागम का योग प्राप्त हुआ है,...' ऐसे जीव की बात ली है! सत्संग मिला है। उसे ज्ञानी का संग मिला है, ज्ञानी की भेट हुई है, फिर भी अपनी बात को छोड़ता नहीं है। खुद जो मानता है, खुद की जो सोच है उसे छोड़ता नहीं है। 'उस योग में भी...' यानी कि सत्संग के योग में भी 'स्वच्छंदता के निर्वाह के लिये...' उसे पता नहीं है। यह तो ज्ञानी ने नाड़ पकड़ी है। 'स्वच्छंदता के निर्वाह के लिये शास्त्र के किसी एकवचन को बहुवचन जैसा बताकर,...' कहीं न कहीं, शास्त्र के वचन पर जोर देकर, जैसे कि यह तो आचार्य का शास्त्र है। समागम तो अविरत सम्यग्दृष्टि का है। मैं तो घर पर आचार्य के शास्त्रों का पठन करता हूँ। मुझे तो चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती से आचार्य के वचन मुझे अधिक बोध का कारण होते हैं, मुझे उसमें अधिक रस आता है। 'उसे बहुवचन जैसा बताकर, मुख्य साधन जो...' वहाँ कोमा लिया है।

'मुख्य साधन ऐसा जो सत्समागम...' ऐसे। दोनों में सत्समागम तो मुख्य साधन है। शास्त्र और सत्पुरुष का योग दोनों में सत्पुरुष का योग वह मुख्य साधन है, 'उसके समान शास्त्र को कहता है अथवा उससे विशेष भार...' इससे भी विशेष भार देना तो अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश में जाता ही है परन्तु बराबरी करे तो भी 'उस जीव को भी शास्त्रीय अभिनिवेश है' ऐसे जीव को प्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश नहीं अपितु अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है। ऐसी बात ली है।

'श्रीमद्जी' ही ऐसी स्पष्टता दे सकते हैं। यह उनकी शक्ति है। गजब की बात लिखी है। कितनी गहन विचारणा के तल में जाकर यह बात का संशोधन किया है कि, अनेक प्रकार के जीवों को इसका ख्याल हो या न हो तो भी सम्यग्ज्ञान की निर्मलता में ये सब झलकता है। अरेरे..! क्या करे? सत्शास्त्र को हाथ में रखता है, आचार्य के शास्त्र को हाथ में रखता है और ज्ञानी के प्राप्त प्रत्यक्ष सत्समागम की उपेक्षा करता है, वह अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है। इसप्रकार



सत्समागम की उपेक्षा करना वह सिर्फ शास्त्रीय अभिनिवेश नहीं बल्के अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है। इतना इसमें से निकाला है।

कहते हैं कि, हमारे ख्याल में है कि आत्मा सहज समझने के लिये शास्त्र उपकारी है, यह बात हमारे ख्याल में है। अभिनिवेश की ऐसी बात करते समय भी हमारे ख्याल में है कि आत्मा समझने के लिये शास्त्र उपकारी है, किन्तु किसको? कि स्वच्छंद रहित पुरुष को। तेरा स्वच्छंद क्षीण हो गया है। स्वच्छंद का अर्थ क्या है पता है? इसकी परिभाषा भी स्वयं ने २५४ पत्र में की है। जो अपक्षपातरूपसे खुद के दोष को देखता है उसका स्वच्छंद घटता है, स्वच्छंद मिटता है। अपक्षपातरूप से। वहाँ ऐसी परिभाषा की है। अपक्षपातरूप से ऐसा बिलकुल नहीं कि यह मेरा दोष इसलिये कोई बात नहीं या जैसे भूमिका का दोष है, अभी तो अज्ञानी हूँ, अभी तो श्रावक हूँ इसलिये इतना राग तो चलता है, इतना क्रोध हो जाये तो कोई बात नहीं। इसको पक्षपात है। जिसे अपने दोष का पक्षपात है उसे तो स्वच्छंद है। दूसरे के दोष का पक्षपात करनेवाले को तो तीव्र स्वच्छंद है। क्योंकि वह दोष के पक्ष में चढ़ता है।

मुमुक्षु :- खुद में दोष हो तभी दूसरे के दोष का समर्थन करेगा न? क्या ऐसे पक्षपात करता है?

पूज्य भाईश्री :- जो दूसरे के दोष का भी समर्थन करता हो वह खुद के दोष को तो देखनेवाला ही कहाँ है? उसका अपक्षपात कहाँ रहेगा? उस जीव को तो कितनी हद तक पक्षपात अपने दोष का बढ़ने के बाद आगे जाकर दूसरे के दोष का पक्षपात करता है। इसमें हरजा नहीं है, इतनी आपत्ति नहीं है, ऐसा तो चलता है, हो सकता है। इसतरह स्वच्छंद ऐसी चीज है कि वह नजर में आना ही मुश्किल है। मान की प्रकृति है न! मान के भेद में जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसमें से जैसे मान जल्दी से पकड़ में नहीं आता है, उसके पेटाभेद में यह स्वच्छंद नामकी प्रकृति है, वह भी पकड़ में नहीं आती है। इसलिये 'श्रीमद्गी' ने बहुत सुंदर रास्ता दिखाया कि, 'मानादिक शत्रु महा

निज छंदे न मराय जाता सद्गुरु चरण मां अल्प प्रयासे जाय' उसे विचार भी नहीं करना पड़ता कि मेरा मान टालूँ या कैसे टालूँ? जैसे ही उसने शरण पकड़ा कि बस। आपको सर्वस्व माना है और यहाँ से मुझे कल्याण करना है। यह सेवक हो गया। कल कहा नहीं था? गुणसमुद्र प्रगट होने का कारण है। बात पूरी। उसको मान भी नहीं होगा और स्वच्छंद भी नहीं होगा, अल्प प्रयास से छूट जायगा। वरना होगा तो भी उसकी खबर नहीं पड़ेगी। ऐसी परिस्थिति खड़ी होगी। इसलिये ये सब युक्तियाँ बतायी हैं। दोष मिटाने की ये सब युक्तियाँ बतायी हैं।

शास्त्र किसको उपकारी है? कि, 'स्वच्छंद रहित पुरुष को...' इतना लक्ष रखकर व स्वच्छंद प्रत्ययी जागृति रखकर 'इतना ध्यान रखकर सत्शास्त्र का विचार किया जाये...' यानी कि आत्मार्थपूर्वक शास्त्र पर विचार करे तो 'वह शास्त्रीय अभिनिवेश गिनने योग्य नहीं है।' यह अभिनिवेश का विषय ६६१ वें पत्र में है।

मुमुक्षु :- स्वच्छंद छिपा चोर है।

पूज्य भाईश्री :- यह मोक्षार्थी का प्रकरण है। इसमें बहुत से विषय विचार (करने योग्य है)। मोक्षार्थी जीव कैसा होता है? वह मोक्ष का ध्येय सुनिश्चित करे, तथारूप सुविचारणा कैसी होती है? उसका शास्त्रवाचन कैसा होता है? (स्वरूप प्राप्ति की उसकी भावना व लगन कैसी होती है? आत्मा का निर्णय न हुआ हो तो उसकी जिज्ञासा कैसी होती है? यह सब इसमें आता है। अगर एक मोक्षार्थी हो तो। वरना एक भी बात लागू नहीं पड़ती। ऐसा जिज्ञासा का विषय तो आया था।

मुमुक्षु :- कायदा बहुत कड़क है।

पूज्य भाईश्री :- कायदा तो वस्तुस्थिति को प्रगट करता है। किसी के बने-बनाये कहाँ है? किसीने नहीं किये। Indian penal code की तरह ये नहीं बनाये गये। ये तो वस्तुस्थिति को प्रसिद्ध करनेवाले नियम हैं। क्या आपको वस्तु की व्यवस्था तोड़नी है? अरे! आपका माथा फूट जायगा भाई! वस्तुस्थिति अन्यथा नहीं होगी। कोई ऐसा कहे कि, वज्र के साथ ऐसा सिर भिड़ाऊँ

कि वज्र को तोड़ डालूँ। अरे! दरार भी नहीं होगी। खरोंच भी नहीं होगी बल्कि तेरा सिर फूट जायगा, भाई! वस्तुस्थिति तो वज्र है।

यह तो 'बहिनश्री' कहते हैं कि, चौदह ब्रह्माण्ड को बदलना पड़ेगा। वस्तुस्थिति, अंतरंग भावनाएँ तो वस्तुस्थिति है। क्या कहा? अंदर की आत्मप्राप्ति के लिये चैतन्यमें से उत्पन्न हुई चैतन्य की भावना, चैतन्य प्राप्ति की भावना वह तो एक ऐसी वस्तुस्थिति है, कि, अनुभव न हो तो चौदह ब्रह्मांड को बदलना पड़े। जैसे चौदह ब्रह्माण्ड नहीं पलटते वैसे यह भी नहीं पलटती। फिर भी चौदह ब्रह्माण्ड को पलटने की बात भले ही एकबार मंजूर करनी पड़े, यह तो मंजूर कर ही नहीं सकते, ऐसा है। कितना जोर है! उन्होंने तो बहुत तेजी से मोक्षमार्ग में प्रवेश किया है।

३०८ बोल है, कि 'यदि अपने पीछे विकराल बाघ छपट्टा मारता हुआ दौड़ता आ रहा हो तो स्वयं कैसे भागते हैं! क्या वह मार्ग में विश्राम के लिये रुकेगा? ऐसे ही यह 'काल' झपट्टा मारता चला आ रहा है और अंतर में काम बहुत करना है, स्वयं को ऐसा लगना चाहिये।' ऐसा है। तेजी से काम करना हो उसका ही काम है। १९० वहाँ बाघ का दृष्टांत लिया न? पीछे बाघ पड़ा है।

यहाँ कहते हैं, 'जैसे सिंह को चारों ओर घूमते देखकर नींद नहीं आती, मारने के लिये हथियारबन्द पुलिस को घूमते देख नींद नहीं आती है, वैसे ही जबतक तत्त्वनिर्णय न हो तब तक जीव को सुख की नींद नहीं आती।'

व्याख्यान सुनते-सुनते नींद आने का तो प्रश्न ही नहीं है। उसका तो विचार करना बेकार है, परन्तु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि नींद के समय में नींद नहीं आये। वरना वह तो उदीरणा का प्रकार है। नहीं चाहते हुए भी आने लगे। उदीरणा का प्रकार है। उदय की उदीरणा ली है। दर्शनावरणी की। दूसरा काम करता हो तो भी नींद आने लगे। कुछ पढ़ना हो तो भी पढ़ नहीं सके। नींद ऐसी चीज है। नींद आने पर सो ही जाना पड़ेगा ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि, वह उड़ जाती है। जहाँ अंतर में तत्त्व का निर्णय करना है कि मेरा स्वरूप कैसा है? स्वतत्त्व का निर्णय करना है। तत्त्व का निर्णय मतलब स्वस्वरूप का निर्णय करना है। ऐसा निर्णय जबतक नहीं हो तबतक उसकी जिज्ञासा की बलवत्तरता इतनी वेग पकड़ती है कि कहीं भी चैन न पड़े। पूछना चाहिये कि ऐसा हुआ है कभी? वरना छुटकारा नहीं है। ऐसा नहीं है कि घण्टे, दो घण्टे स्वाध्याय बरसों तक करे सुनता रहे या अनेक जीवों से, अनेक विशेषज्ञों से जानकारी हो, अनेक शास्त्रोंमें से जानकारी हो जाये तो इससे तत्त्वनिर्णय हो जायगा, ऐसा नहीं है। निर्णय की छटपटाहट पैदा होगी तब निर्णय होगा। और ऐसी छटपटाहट में तेरी नींद हराम हो जानी चाहिये।

बाह्य जीवन में स्वजन की मृत्यु होने पर महीनों-सालों तक रोना आता है। स्मरण होते ही रोना आता है। और यहाँ परमात्मा का वियोग है फिर भी तुझे कोई दुःख नहीं होता! फिर कहता यों है कि मुझे आत्मप्राप्ति करनी है कहते हैं कि, निकल यहाँ से, यहाँ तेरा कोई क्लास नहीं है। ऐसा विषय है। जीव को अपने आप को पूछना चाहिये कि, कदि रोया है तू? कि कुछ नहीं। कुछ नहीं लगता है? फिर तो कुछ है ही नहीं, तेरा ध्येय सुनिश्चित हुआ नहीं है और तेरी आत्मा के प्रति प्रीति होनी चाहिये वह अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है बस! यह तो मोक्षार्थी का प्रकरण है न! यह मोक्षार्थी की पूर्वभूमिका क्या चीज है (यह बात चलती है)। आगे बहुत-सी बातें आ चुकी हैं, इसके साथ संबंध है।

'जगत का यश, कीर्ति, धन...' की लालच। ठीक है इतना तो लाभ होगा। इतना सम्बन्ध है। इस संप्रदाय में इतने बड़े-बड़े श्रेष्ठ लोग हैं, और हम इसमें शामिल हुए हैं तो अच्छा है। सम्बन्ध बने हैं। और शायद व्यवसाय का मौका मिल जायेगा, तक मिल जायेगी। कुछ लाभ होगा। जरूरत पड़ने पर सहाय मिल जायेगी, साधर्मि जानकर सहाय करेंगे। कहते हैं कि, ऐसे जीव को आत्मा का, आत्मार्थ का कोई प्रयोजन नहीं है। उसने तो फिर एक नई दुकान शुरू की। उसने

क्या किया है? उसने दुकान शुरू की है।

अरे! स्वर्ग का अर्थी' कम से कम शुभभाव, तो होंगे। या तो हररोज भगवान के दर्शन करके दुकान जाऊँगा तो मुनाफा तो अच्छा होगा। घाटा हो जानेवाला हो तो बच जाऊँ। शुभ से तो अशुभ हटता है कि नहीं? कुछ पाप किये होंगे तो पुण्य की Reverse entry तो होगी। लेकिन ऐसी सोचवाले को तो पुण्य की भी entry नहीं पड़ेगी कहते हैं। क्योंकि तेरा अभिप्राय पहले से ही विपरीत है। मलिन आशय से तू भगवान के दर्शन करने आया है। तुझे तो पुण्य का बंध भी नहीं होगा। पाप बँधता है, वहाँ भी तुझे तो पापबँध ही होगा।

मुमुक्षु :- मिथ्यात्व का पाप चल ही रहा है?

पूज्य भाईश्री :- मिथ्यात्व का चालू है और ये संयोग सब ठीकठाट बने रहे और अच्छे रहे, अनुकूलता रहे वह पाप भी उसका चालू है। पाप की ही गठरी है सब, और कुछ नहीं है। और इसका कारण ऐसा हा कि उसका ध्येय वैसा है। वीतराग के सामने ऐसा क्यों होता है? कि, मुझे पुण्यबंध हो तो अच्छा और इसका फल मिले तो अच्छा। उसका तो ध्येय ही मोक्ष का नहीं है। उसका ध्येय अनादि से संसार का है तब ऐसा हुए बिना रहेगा नहीं। ऐसा ही होगा। इसमें विचार भी नहीं करना पड़ता। बिना सोचे ऐसा ही भाव उसे आयेगा। इसके लिये कोई विचारना करनी पड़ती है क्या? ऐसा ही होता है।

मुमुक्षु :- ध्येय के लिये क्या करना?

पूज्य भाईश्री :- ध्येय में और तो क्या करना है? ध्येय मतलब तू यहाँ आये किस लिये हो? यह नक्की कर। यहाँ क्यों आया? इस वीतरागमार्ग के क्षेत्र में क्यों तेरी उपस्थिति है यह जाँच कर ले। अंतर में ध्येय क्या है? प्रयोजन क्या है? नक्की कर। अगर परिपूर्ण निर्दोषता का प्रयोजन नहीं है तो ऐसे आत्मार्थ के अलावा किसी भी प्रकार का अर्थ नाम प्रयोजन होगा तो इसमें से दूसरी-दूसरी गड़बड़ी उत्पन्न हुए बिना रहेगी नहीं।

'स्वर्ग का अर्थी नहीं है...' शुभभाव का बँध होगा और इसके फल की प्राप्ति होगी, क्योंकि उत्कृष्ट

पुण्य का फल चार गति में स्वर्ग है, स्वर्ग तो मिलेगा। वैसे भी परिभ्रमण करते हुए नरक, तिर्यच में जाने से स्वर्ग में जाना तो बेहतर है न। मनुष्य और स्वर्ग, मनुष्य और स्वर्ग... कहते हैं वैसा मुमकिन नहीं होगा। स्वर्ग में जायेगा तो वहाँ से एकेन्द्रिय में जाने में देर नहीं लगेगी, क्योंकि वहाँ तू तीव्र आसक्ति में फँसेगा। यहाँ की अपेक्षा वहाँ तो बाह्य साधन, भोग-उपभोग की मात्रा बहुत है, उसमें तेरा रस तीव्र हो जायेगा। यहाँ पर भी संयोग में थोड़ी वृद्धि होते ही तेरा रस तीव्र हो जाता है कि नहीं? वहाँ इतनी तीव्रता बढ़ेगी कि एकेन्द्रिय में चला जायेगा।

'वही मोक्षार्थी है।' जिसको इस जगत से कुछ नहीं चाहिये। 'बहिनश्री' ने यह विषय उसमें से निकाला है। खास पात्रतावान कौन है? ऐसे करके (बात की है)। सम्यग्दर्शन के योग्य ऐसी खास पात्रता, शास्त्र परिभाषा में इसे मोक्षार्थी कहते हैं, दोनों एक ही बात हैं। जिसको इस जगतमें से कुछ भी नहीं चाहिये, केवल आत्मा ही चाहिये और एकमात्र आत्महित करना है वह वर्तमान पात्र है। पात्रता दो प्रकार की हैं : वर्तमान और गर्भित। गर्भित पात्रता तो जब जीव वर्तमान पात्रता में आयेगा तब काम करेगी, वहाँतक गर्भित पात्रता का कोई लाभ नहीं है। वह तो सिर्फ ज्ञानी के ज्ञान का विषय रहा। परन्तु जब जीव वर्तमान पात्रता में होता है तब जीव को जो भी सत् के संस्कार का योग बनता है तब वह ग्रहण कर लेता है, तब तक ग्रहण नहीं करता। और ऐसा अवकाश कब उत्पन्न होता है? कि जब एकमात्र ध्येय हो तब। कोई अन्य चाहत न हो तब।

'गुरुदेवश्री' अनुमोदन करते थे न! कोई जब निवृत्ति लेता था तो अनुमोदन करते थे (अपने एक मुमुक्षुका) नाम लेकर प्रशंसा करते थे कि देखो! छोटी उम्र में निवृत्ति ले ली। दूसरों को भी इसमें संकेत है कि, ध्येय ऐसा सुनिश्चित कर लेने जैसा है। निवृत्ति के बहाने कहा जाता है, कि देखो! इसने निवृत्ति ले ली। आप ६० साल की उम्र में निवृत्ति नहीं ले रहे हैं जबकि इसने ४० साल की उमर में निवृत्ति ले ली।

इसका मतलब क्या है कि, ध्येय तो यह बाँधने जैसा है। ब्रह्मचर्य लेते तो इसका अनुमोदन करते थे। क्यों? कि, ब्रह्मचर्य रखनेवाले को आरम्भ-परिग्रह मर्यादित हो जाते हैं। अब्रह्मचर्यवाले को आरम्भ-परिग्रह वृद्धिगत होता जाता है। जिसे आत्मा का ध्येय है उसे ध्येय से सुसंगत ऐसे जितने भी प्रकार हैं उन सब की बाहर से भी अनुमोदना की जाती है। मूल बात तो अंदरूनी है परन्तु बाहर में ऐसा कोई कदम उठाये ऐसा कोई प्रयास करे तो उसका भी अनुमोदन किया जाता है। इससे विरुद्ध करे तो इसका अनुमोदन नहीं किया जाता। ऐसा है। इसके पीछे कारण है।

‘जो एकमात्र पूर्णानन्द की प्राप्ति और राग-द्वेष के दुःख के व्यय का अर्थी है, वही मोक्षार्थी है।’ आनंद की प्राप्ति नहीं कहा। ‘जो एकमात्र पूर्णानंद की प्राप्ति...’ क्योंकि वह ध्येय जो आदर्श के स्थान में है, साध्य के स्थान में है और साध्य अपूर्ण नहीं होता, आदर्श अपूर्ण नहीं होता। थोड़ा दोष और थोड़ी निर्दोषता ऐसा आदर्श कभी नहीं हो सकता। आदर्श हमेशा परिपूर्ण होता है। वह मोक्षार्थी है।

मुमुक्षु :- ‘श्रीमद्जी’ने कहा, काम एक आत्मार्थं जुं...

पूज्य भाईश्री :- ‘बीजो नहीं मन रोग’ मन का रोग हो जाये। चैन पड़े नहीं तब बेचैनी खड़ी हो जाय। नींद खराब हो जाय, सब कुछ हो। ये सारे मन के रोग के लक्षण है। कभी शारीरिक रोग के कारण भी नींद खराब होती है। परन्तु उसमें mind disturb हुआ है यह बात साथ ही साथ सुसंगत है।

कहते हैं कि ‘काम एक मोक्षार्थं—आत्मार्थं जुं बीजो नहीं मन रोग।’ आत्मार्थं कहो, मोक्षार्थं कहो, एक ही बात है। ऐसा मोक्षार्थी हुआ जीव, जो मोक्षार्थी हुआ है वह जीव की ‘सर्व प्रथम क्रिया कौन-सी?’ उसकी सर्वप्रथम अंतरंग क्रिया कौन-सी है? आत्मा की क्रिया आत्मा के अंतरंग में होती है। ‘कि सर्वप्रकार के भेदज्ञान में प्रवीण होना ही प्रथम क्रिया है।’ क्या कहते हैं? भेदज्ञान का कार्य करना, भेदज्ञान की क्रिया करनी यह सर्वप्रथम कर्तव्य है। शास्त्र पढ़ना या सुनना

यह प्रथम कर्तव्य है ऐसा नहीं कहा। यात्रा करना या दान देना यह प्रथम कार्य है ऐसा नहीं कहा। या अन्य किसी दूसरी क्रिया को प्रथम कर्तव्य नहीं कहा। ‘सर्वप्रथम क्रिया कौन-सी?’ कितना ‘गुरुदेवश्री’ने स्पष्ट कर दिया है। ‘कि सर्वप्रकार के...’ पूर्ण, स्पष्ट भेद ज्ञान करना। और उस भेदज्ञान की क्रिया में कुशलता प्राप्त करनी। प्रविणता नाम कुशलता। उस कार्य में Expert हो जाना चाहिये ऐसा कहते हैं। एकदम काबिल हो जाना चाहिये, निष्णांत होना है, और जिस कार्य में जिसको प्रवीण होना है, निष्णांत होना है, कुशल होना है, तो आपको इसकी Practice करनी अनिवार्य है। इसके सिवा किसी भी तरह उस कार्य में कुशलता या प्रविणता नहीं आती। जगत में भी क्या है? नौकरी में रखते हैं तो कितने साल का अनुभव है यह बात मुख्य है। Interview लेते हैं कि नहीं? इस काम में आपका कितना अनुभव है? पढ़ाई की हो तो भी उसके Certificates को बाजू पर रखेंगे और अनुभव कितना है? क्योंकि अनुभव है वह ऐसी शिक्षा है कि, जिसके आगे दूसरी शिक्षा गौण हैं। सर्वोत्कृष्ट शिक्षा है। अतः भेदज्ञान करने के प्रयोग का वारंवार अभ्यास करना, भिन्नता का बार-बार अभ्यास करना। ऐसे बार-बार के अभ्यास द्वारा भेदज्ञान में प्रथम तो प्रविणता, कुशलता प्राप्त करनी यह सर्वप्रथम क्रिया है। सर्व शक्ति को यहाँ लगाना, दूसरा भले ही कुछ न आता हो, कुछ समझ न हो। तिर्यच ने अंतर में भेदज्ञान किया, सम्यग्दर्शन व पंचम गुणस्थान पर्यंत स्वरूप स्थिरता की स्थिति आयी।

द्रव्यलिंगी मुनि को ग्यारह अंग, नौपूर्व और पंचमहाव्रत सहित दीक्षा अवधारण करके अट्टाईस मूलगुण जिनोक्त व्यवहार निरतिचार पालन लिये। निर्दोष अतिचार, दोष नहीं लगा। फिर भी अंतर में भेदज्ञान नहीं किया अतः वह शुभराग से अभेदता करके चला। क्या किया? शुभराग से अभेदता करके चला। भेदज्ञान की बात रह गई। क्या रह गया? कि, यह रह गया।

‘समयसार’ के बंध अधिकार में यह गाथा है।

द्रव्यलिंगी मुनिने बाहर में देखे तो शास्त्रज्ञान भी बहुत किया है और क्रियाएँ भी बहुत की हैं। धर्म के क्षेत्र में सामान्यतया ज्ञानक्रिया और त्यागक्रिया, इन दो क्रियाओं से लोग धर्म के रास्ते पर चलते हैं ऐसा जगत को ख्याल में आता है। दो प्रकार की क्रिया। एक ज्ञान की क्रिया दूसरी त्याग की क्रिया। कहते हैं कि वह ज्ञानी की क्रिया में ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक गया। त्याग की क्रिया में जिनदीक्षा अंगिकार करके पंचमहाव्रत, अट्टाईस मूलगुण का निरतिचार पालन किया। प्राण छूट जाये तो भी अगर शुद्ध द्रव्यलिंगी होगा तो उद्देशिक, आहार का एक कण भी नहीं लेगा। पानी की बूँद तक नहीं लेगा। प्राण छूटे तो भले ही छूट जाय। (उस) शुभभाव के फल में नौवीं ग्रैवेयक तक जायेगा। बिलकुल स्पष्ट शुभभाव है। भीतर में भेदज्ञान नहीं है। भेदज्ञान की क्रिया में वह नहीं चढ़ा। इसीलिये तो 'समयसार' में यह बात ली है कि, शास्त्र के ज्ञान की फलक्षुति क्या? प्रयोजन क्या? कि, ज्ञानमय भिन्न आत्मा का ज्ञान करना वह शास्त्र पठन के पीछे प्रयोजन है। बंध अधिकार में ऐसे शब्दों का प्रयोग आया है। यह जबतक नहीं करता भिन्न नहीं होता है तबतक जितना भी धर्म के बहाने किसी भी निमित्त से किसी भी क्रियाएँ की जाती हैं, वे धर्म के साधनभूत नहीं होती। यह विषय स्पष्ट है।

यह १७-१८ गाथा में आबाल-गोपाल को धर्म की प्राप्ति कैसे होगी यह विषय उठाया है। टीकाकार आचार्य महाराजने ऐसा शब्दप्रयोग किया है कि, आबाल-गोपाल को ज्ञानलक्षण से ज्ञानमय आत्मा भिन्न अनुभव में आता है तो उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्रगट होता है। वरना उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती। मोक्षमार्गरूपी धर्म तो इतना ही है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि। इसके अलावा जो भी बाहर में है वह धर्म से बाहर है। फिर भी जो धर्म कहा जाता है सो तो उपचार से कहा जाता है।

मुमुक्षु :- राग की उपस्थिति है उसके साथ ज्ञान एकता करता है यही मूलभूत दोष है न ?

पूज्य भाईश्री :- मूल दोष वही होता आया है। जबतक भेदज्ञान नहीं करता, तब शास्त्र के निमित्त से शुभराग होता है और त्याग के निमित्त से शुभराग होता है इसके साथ एकत्व करता है। वह शुभराग को ही आत्मा मानता है। वह जब-जब जो शुभराग होगा उतना ही मैं ऐसे ही स्वयं का अनुभव करता है, वेदन करता है परन्तु तब अपने शुद्धात्मा का अस्तित्व होने पर भी और इस शुद्धात्मा में अनन्त गुणरत्न भरे होने पर भी उसकी हयाती को नहीं स्वीकारता है, नहीं वेदन करता है, नहि अनुभव करता है बल्की उसकी उपेक्षा करता है। दूसरे अर्थ में कहे तो इसकी उपेक्षा करता है, उसका तिरस्कार करता है, अनादर करता है यह परिस्थिति है।

मुमुक्षु :- राग को ही अपना सर्वस्व मानता है न ?

पूज्य भाईश्री :- सर्वस्व हो चूका है। राग सर्वस्व हो चूका है। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि जीव को राग ही सर्वस्व हो गया है। फिर राग के विषय चाहे जो भी हो। फिर जब ज्यादा बिगाड़ होता है तब विषयों की पक्कड़ भी हो जाती है। परन्तु मूल में राग सर्वस्व हो चूका है।

'समयसार' में ९५वाँ कलश है, कि विकल्प उठा कि विकल्प का कर्ता मैं। 'विकल्प) कर्म केवलम्' ऐसा लिया है। 'समयसार' में ९५वाँ कलश है। कर्ता-कर्म अधिकार है। इस कलश पर 'गुरुदेवश्री' का प्रवचन बहुत ही सुंदर आया था। सूक्ष्मभाव बहुत निकलाते थे न! 'विकल्पकः परं कर्ता' परम कर्ता हो गया है। 'विकल्पकः पर कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्, कर्म केवलम् न जातु कर्तृकर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति।।१५।।'।

इतना पद है। विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है। 'विकल्पकः' विकल्प करनेवाला ही इसका परम कर्ता है, पूरा कर्ता है। अभेद होकर कर्ता है। कर्ता-कर्म एक अभेद में होता है। और यह विकल्प ही केवल उसका कर्म है। सर्वस्व, केवल-मात्र इतना ही उसका कर्म है। जो जीव इसप्रकार विकल्पसहित है उसका

विकल्प का कर्तृत्व यानी कर्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। वह निरंतर विकल्प करता रहेगा। क्योंकि उसे विकल्प का कर्ताकर्मपना निरंतर चालू है। वह उसका परम कर्ता होकर अपना परम कर्तव्य समझता है। अतः वह उसे छोड़नेवाला नहीं है। एक टुकड़ा है। बहुत से भाव इसमें से निकाले हैं। अब तो ये सारे प्रवचन प्रसिद्ध हो चुके हैं-प्रवचन रत्नाकर में। बहुत-सी बातें इसमें स्पष्ट हुई हैं।

मुमुक्षु :- ९५वाँ कलश है न?

पूज्य भाईश्री :- ९५वाँ कलश है। ये सब तो प्रत्यक्ष 'गुरुदेवश्री' के प्रवचन सुने हैं इसलिये इसका स्मरण रह गया होता है न। कैसा-कैसा विषय चला है! बहुत सूक्ष्म विषय चला है। एक विकल्प उठा, तो जाना तो है ज्ञान में। विकल्प उठा, यह पता कैसे चला? कि ज्ञान में पता चला तब। परन्तु परम कर्ता होकर ऐसा विकल्प से अभेद हुआ कि, यह मैंने किया... यह मैंने किया... यह मेरा कार्य है। बस! वह पूरे ज्ञान को, ज्ञानमय आत्मतत्त्व को चूक जाता है। सिर्फ जाननेवाला न रहकर एकांत कर्ता हो जाता है। कर्ता-कर्म का अधिकार चला है न? इसमें से ऐसा कर्तृत्व पैदा होता है। यह मिथ्यात्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप है कि जहाँ से मिथ्यात्व का जन्म होता है, मिथ्यात्व का अंकुर जहाँ से निकलता है और फिर पनपता है। लेकिन इसका उद्गमस्थान यहाँ है। यहाँ वह बात ली है।

इसको तोड़ने के लिये यह बात है कि, सर्वप्रथम क्रिया कौन सी? कि सर्वप्रकार से भेदज्ञान में-राग से विकल्प से भिन्न होने में ज्ञान में अथवा भिन्न होने की क्रिया में प्रविणता नाम कुशलता प्राप्त करनी वही सर्वप्रथम क्रिया है। सर्वप्रथम अगर कोई कर्तव्य है तो यह है। द्रव्य में तुझे क्या करना है? द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है। अंतरंग जो आत्मस्वभाव है उसे तो आवरण नहीं हो सकता, लागू नहीं हो सकता या आवरण की वहाँ तक पहुँच नहीं है। आवरण वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। आवरण पर्याय में आता है। विशेष अवस्था, विशेष भाव में आवरण होता है। त्रिकाली सामान्य में

आवरण की पहुँच नहीं है। द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है। 'द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है।' दिग्म्बर साहित्य में यह विषय अत्यंत स्पष्ट है। जो अंतरंगद्रव्य का विषय है, जो सामान्य द्रव्य है यह विषय सर्व सत्शास्त्रों में बहुत, स्पष्ट है।

'द्रव्य तो त्रिकाली निरावरण है पर वर्तमान पर्याय में रागादि को मिश्रित कर रखा है।' जो भी राग उत्पन्न होता है वह अनात्मभावरूप, अनात्मस्वरूप, अनात्मभूत, अस्वभावभूत, विभावभूत होनेपर भी मिथ्यात्वभाव से स्व-रूप किया है, वैसे स्व-रूप होना असम्भव है परन्तु मिथ्यात्वभाव से उसे स्व-रूप किये हैं। मिश्रित किये हैं ऐसा कहा जाता है। स्व-रूप अनुभव किया मतलब अपने आप में मिश्रित किये हैं, ऐसा कहते हैं। हो नहीं सकते हैं वे छूट जाते हैं। प्रतिसमय जो भी रागादि विभाव होते हैं, वे होते हैं और छूट जाते हैं। आत्मारूप नहीं हो सकते। अच्छा लगे और कोई राग सुहाता हो तो भी रखना चाहते हुए भी रख नहीं सकता। क्योंकि जीव की वह चीज नहीं है। वह स्वतंत्र आते हैं और स्वतंत्र जाते हैं।

'वर्तमान पर्याय में रागादि को मिश्रित कर रखा है तो भी...' भले ही मिश्रित किये। उसे नहीं छोड़ सके सो बात नहीं है। क्योंकि वे तो वास्तव में भिन्न हुए हैं। तुझे अंतरंग अवलोकन से इसका भिन्नत्व जानकर अनुभव में लेना जरूरी है। इतनी बात है, तो भी भेदज्ञान की प्रविणता से 'राग की दिशा पर-और है व ज्ञानदशा स्व-ओर है'-ऐसे वो दशाओं के मध्य प्राँचैनी लागने से-भिन्नता का अनुभव हो सकता है।' यह भेदज्ञान करने की अंतरंग रीत और विधि का निरूपण यहाँ है। अनुभवपद्धति से कही इस बात को अनुभवपद्धति से समझने योग्य है। किस पद्धति से? अनुभवपद्धति से बात समझने जैसी है। इस जगह बहुत सुंदर बात की है। गहरी मर्म की बात की है। यह बोल ही यहाँ पर इसलिये चुना है। भेदज्ञान का विषय तो बहुत-सी जगह आता परन्तु यह बोल यहाँ

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-४ पर)

**पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से  
आत्मजागृति विषयक चूटे हुए कुछएक वचनामृत**

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ’ ऐसे भावसे अंतर सावधानी होती है । ऐसी सावधानी होने पर अन्यभाव सहज बन्द हो जाता है - ज्ञानचेतनामें - दशामें निरंतर ऐसी निर्विकल्प जागृति रहती है। ऐसी दशा होनेके लिये मुमुक्षुजीवको भी सविकल्प जागृति उत्पन्न होती है। संक्षेपमें यह जागृति जो है वही वास्तविक मुमुक्षुता है । सत्पुरुषके योगमें उसकी उत्पत्ति सहजरूपसे होने योग्य है । (१२)



उदय तथा उदयभावमें जीव एकमेक - तन्मय रहा करता है । अत्यंत ममत्व करता है । वहाँ जागृतिका अभाव वर्तता है । (१३)



यह संसारकी जंजाल विषम परिणामोंका निमित्त है, ऐसे इस संसारके प्रसंगोंमें, स्वरूपकी अपेक्षा अपनी भिन्नताका अवलोकन करते हुए / अनुभव करते हुए समता रहे, वही आत्मचिंतन है। (२८)



व्यवसाय आदिमें जुड़ना पड़ता हो, तब उसमें उत्साह / रस नहीं बढे ऐसी जागृति / सावधानी रहनी आवश्यक है । जिससे कि निवृत्तिकालमें उस उदयभावका रस आड़े नहीं आये । (८८)



पर विषयमें सुखका अनुभव होना वह कल्पित है, झूठ है । वहाँ वास्तवमें सुख अथवा आनंद नहीं होता फिर भी, आभास होता है । उसमें झूठा आनंद माना जाता है । यह सिद्धांत किसी भी कक्षाके कषायकी मंदतावाले परिणामको भी लागू होता है। निजहितके प्रयोजनके दृष्टिकोणवाले जीवको झूठे - कृत्रिम आनंदमें खुद धोखेमें नहीं आ जाये उसकी सतत जागृति - सावधानी प्रसंग-प्रसंग पर, कार्य-कार्यमें रहनी जरूरी है क्योंकि उसमें आध्यात्मिक नुकसान है । (१२३)



महापुरुषोंका जीवन चरित्र देखते हुए, वह ऐसा प्रतिबोध देता है कि निरंतर उदयमान ऐसा कर्मप्रसंग अनन्त कालसे नये प्रतिबंधका कारण होता आया है, वहाँ अपनी पूरी शक्तिसे जागृत रहने योग्य है, अर्थात् अजागृत रहने योग्य नहीं है। ऐसा प्रकाशित करके अनन्त आत्मार्थका प्रतिबोध किया है। अतः पूर्व प्रारब्ध ऐसा जो कर्मप्रसंग जब प्राप्त हो, तब उसके प्रति जागृत उपयोगसे, उदासीनतासे उसका वेदन कर्त्तव्य है, वरना आत्मार्थकी हानि होनेमें देर नहीं लगती।

महा पुरुषार्थसे जो पराक्रमी हैं, वैसे पुरुषार्थमूर्ति धर्मात्माएँ भी जहाँ आत्मदशाको सँभालते-सँभालते अंतरमें अत्यंत सावधान रहकर चले हैं, वहाँ मुमुक्षुजीवको प्रवर्तते हुए कितना विशेष सँभलकर रहना - सावधान रहना चाहिये; उसका वारंवार प्रसंग-प्रसंग पर विचार कर्त्तव्य है। (६३१)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणमन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत



प्रश्न :- आप शुद्ध पर्याय को दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं या ज्ञान की अपेक्षा से ?

उत्तर :- दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं; ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। दृष्टि करने के प्रयोजन में भिन्नता का जोर दिये बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; इसलिये दृष्टि की अपेक्षा से ही भिन्न कहते हैं। और अपनी तो यही 'दृष्टिप्रधान' शैली है, सो ऐसे ही कहते हैं। २.



सिद्ध (पर्याय) से भी मैं अधिक हूँ; क्योंकि सिद्ध (दशा) तो एक समय की पर्याय हैं; और मैं तो ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड हूँ। ७.



जैसे मेरुपर्वत अडिग है; 'मैं' भी (स्वभाव से) वैसे ही अडिग हूँ। मेरु में तो परमाणु आते-जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ भी आता-जाता नहीं - ऐसा 'मैं' अडिग हूँ। ८.



'मैं' वर्तमान में ही मुक्त हूँ, आनंद की मूर्ति हूँ, आनंद से भरचक समुद्र ही हूँ - ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या ? (पर्याय की इतनी गौणता द्रव्यदृष्टि में हो जाती है।)

मेरे को तो वर्तमान में ही आनंद आ रहा है फिर पर्याय में तो मोक्ष होगा ही ! (- ऐसी प्रतीति आ जाती है।) लेकिन मेरे को तो उससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं। ९.



द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो शुद्धपर्याय भी परद्रव्य है। जब मेरे अस्तित्व में वो (शुद्धपर्याय) नहीं तो फिर राग की तो बात ही क्या ? (द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा अर्थात् द्रव्यस्वभाव में अहंभावरूप श्रद्धा का परिणमन होना। ऐसी श्रद्धा होनेपर ही पर्याय शुद्ध होती है परंतु श्रद्धा उसमें अहंभाव नहीं करती।) ११.

पर्याय में तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपर्याय हो 'मेरे' में (एकरूप द्रव्यस्वभाव में) कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं होता, 'मैं' तो वैसा का वैसा ही हूँ। १२.



(द्रव्यदृष्टि के जोर में :) केवलज्ञान से भी हमारे प्रयोजन नहीं; मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; वो तो हो ही जाता है। १३.

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (सितम्बर-२०१२) का शुल्क श्री नीरव धर्मेन्द्र वोरा, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- आश्रयभूत तत्त्वका अवलम्बन लेनेसे सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान तककी पर्यायें प्रगट होती हैं। तो यह अवलम्बन साधकदशामें ही होता है या सिद्धदशामें भी बना रहता है?—यह समझानेकी कृपा करें।

समाधान :- साधकदशामें ज्ञायकका अवलम्बन रहता है वही अवलम्बन सिद्धदशामें परिणतिरूप रह जाता है। उसमें उन्हें प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं रहती। साधकदशामें वह प्रयत्नरूप है। आत्माका अवलम्बन सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान तक लिया उसमें आत्मा ही उन्हें मुख्यरूपसे दृष्टिमें रहा है, उसके आश्रयमें रहे हैं। सिद्धदशा तक उन्होंने बलवानरूपसे आत्माको ग्रहण किया, फिर उन्हें प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं है। उस आलम्बनमें मुख्यरूपसे द्रव्यपर जो तीक्ष्ण दृष्टि थी वह ज्यों की त्यों सहज परिणतिरूप हो जाती है, फिर वहाँ आलम्बन लेनेकी जरूरत नहीं है। जो आश्रय लिया वह आश्रयरूपसे स्वयं परिणमित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन या साधकदशामें आत्मा ही उन्हें आश्रयभूत है। उन्हें आत्माके आश्रयसे ही संवर-निर्जरा होती है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब आत्माके आश्रयसे होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनके आश्रयमें आत्मा है, सम्यग्ज्ञानके आश्रयमें आत्मा है और चारित्र के आश्रयमें भी आत्मा ही है; सबमें आत्मा है। यद्यपि बाह्य भूमिकानुसार अणुव्रतके और पंचमहाव्रतके शुभभाव हों, परन्तु अंतरमें जो यथार्थ चारित्र प्रगट होता है वह आत्माके आश्रयसे ही प्रगट होता है। चारित्रमें, संवरमें, प्रत्याख्यानादिमें आत्माका आश्रय है। वास्तवमें अंतरमें सब आत्माके आश्रयसे ही होता है। आत्माका जो आलम्बन लिया वह अन्त तक रहता है। श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान और कृतकृत्यदशा हो जाय फिर कुछ करना शेष

नहीं रहता। वह अवलम्बन सहज परिणतिरूपसे—आत्मामें आत्मारूपसे—परिणमित हो जाता है। जैसा स्वरूप है वैसा प्रगटरूपसे सिद्धदशामें परिणमित हो जाता है। उसके पश्चात् आलम्बनका प्रयत्न करना नहीं रहता; आलम्बन सहजरूपसे परिणमित हो जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०४)



प्रश्न :- साधक आत्माओंको तो विश्वास आ गया है कि ज्ञायकके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है; परन्तु जो साधकदशाको प्राप्त नहीं हुए हैं उन जीवोंको उसे प्राप्त करने हेतु क्या करना ?

समाधान :- जो साधकदशाको प्राप्त नहीं हुए उन्हें उसका अभ्यास करना। आत्माका आश्रय लेगे तभी सम्यग्दर्शन हो-ऐसा जाने और आश्रय करे तब स्वानुभूति हो। वस्तुस्वरूप उसके ज्ञानमें आये तो निर्णय करके उस प्रकारका प्रयत्न करे। आत्माके आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी प्रकारसे सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिये आत्माका आश्रय कैसे लिया जाय तदर्थ प्रयत्न करे। उस प्रकारका वैराग्य लाये, महिमा लाये, तत्त्वका विचार करे, उसकी जिज्ञासा करे,—यह (प्राथमिक) भूमिकाके लिये है। जिनको प्रगट हो गया है उनको कैसे प्रगट हुआ? उनको कैसी स्वानुभूति हुई? वह जानकर उसकी महिमा लाये और उस मार्गपर जानेका स्वयं प्रयत्न करे। जिज्ञासुका कर्तव्य है कि वह विभावसे पृथक् हो, वैराग्य प्रगट करे, तत्त्वके विचार करे, तत्त्वका निर्णय करे, द्रव्य-गुण-पर्यायके विचार करे और आत्माका आलम्बन ले। आलम्बनमें द्रव्य है और उसके साथ पर्यायकी परिणति प्रगट होती है। पर्यायका वेदन होता है और द्रव्यका आश्रय होता है।—ऐसे स्वयं विचार करके, निर्णय करे और पश्चात् तद्रूप पुरुषार्थ करे।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०५)



‘इस ज्ञानकी दिन-प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषतः होती जाती है।’

कृपालुदेवका यह वचनामृत - आत्मज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् उस दशाकी प्रतिदिन विशेषता अर्थात् निर्मलता एवं स्वरूपको विशदरूपसे ग्रहण करनेके सामर्थ्यकी विशेषता होती जा रही है ऐसा सूचित करता है। तदुपरांत स्वयंके परिणामकी गति और जाति परसे विशेष अंदाज आता है जो निम्न वचनामृतसे समझमें आता है।

‘में मानता हूँ की केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा।’

शुद्धोपयोग द्वारा प्रगट होनेवाले स्वरूपज्ञानमें मोक्ष-दशाकी प्रतीति उत्पन्न होती है, ऐसा जिनागममें विधान है। तदनुसार उक्त वचनामृतमें कृपालुदेवको केवलज्ञानकी प्राप्ति वर्तमान चल रहे पुरुषार्थके प्रकारसे अवश्य होगी ऐसी (भावी पूर्ण दशाकी) प्रतीति होते ही जिस भावी पर्यायका विकल्प वाणीगोचर जैसे ही हुआ कि द्रव्य-दृष्टि द्वारा उसका निषेध भी हुआ जो निम्न वचनामृतसे समझमें आता है।

‘हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है।’

मोक्षदशासे भी अनन्त गुण विशिष्ट ऐसा निजपरमात्मपद दृष्टिमें आने पर, अर्थात् स्वयं ही पूर्ण परमात्मस्वरूप दृष्टिगोचर और अनुभवगोचर होने पर, अनादि बंध-मुक्तिसे रहित ऐसे परिपूर्ण ध्रुव स्वरूपमें (अपनेमें) मोक्ष-उत्पन्न होनेका अवकाश भी नहीं है, ऐसी दृष्टिके जोरमें भावि मोक्ष-पर्यायकी उपेक्षा ज्ञानीपुरुषको सहज वर्तती है, ऐसा अंतरध्वनि उक्त वचनामृतमें व्यक्त होता है।

‘निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी जरूरत थी, वह अधिकांशमें प्राप्त हुई मालूम होती है, और पूर्णांशमें प्राप्त करानेकी गुप्त रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रहती है।’

अज्ञानदशामें शंका, भय, असमाधान (उलझन) और दीनता सहज होती है, वे सभी परिणाम दुःखदायक हैं, ऐसे परिणामोंकी निवृत्ति प्रत्यक्ष, शाश्वत, सर्वांग समाधानस्वरूप, और निरालंब-निरपेक्ष स्वरूपका ज्ञान और उसमें लीनता होने पर होती है। स्वयंको निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी अनुभूति होनेपर, चारित्रिके अल्प दोष शेष रहकर महद् अंशमें उक्त दोषोंका अभाव हुआ है, और परिपूर्ण निर्दोषदशारूप, गुप्त रहा हुआ निज परम स्वरूप कि जिसका स्वभाव पूर्णरूपसे परिणामन करनेका है, उसे करुणासागरकी उपमा देकर, वह निज परमात्मा अवश्य कृपा करेंगे अर्थात् अवश्य परिणामन होगा ही, ऐसी आशा रहती है।

‘फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी इच्छा रहती है, तो विशेष क्या कहना ?’

इस वचनामृतमें सर्वदशामें समभाव रहता है अर्थात् सर्व दशाओंके प्रति विधि-निषेध समाप्त हो जाय और साम्यभावरूप वीतरागता रहे ऐसी इच्छा रहती है। वर्तमानमें अपूर्णदशा है और भावि पूर्ण दशाका विकल्प होने पर भी दोनों दशाके विकल्पको शांत करके, जिस-जिस कालमें सहज परिणामन हो, उस-उस कालमें सिर्फ ज्ञातादृष्टाभावमें रहेत हुए अलौकिकदशारूप आत्मभावमें रहनेकी स्वयंकी भावना है। पर्यायके सम्बन्धमें इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते।

‘जगतको, जगतकी लीलाको बैठे बैठे मुफ्तमें देख रहे हैं।’

मोक्षमार्ग प्रगट होनेके साथ आभ्यंतरमें आत्मभावकी परिणति सुयोग्य प्रकारसे चल रही है अर्थात् ज्ञातादृष्टा (शेष अंश पृष्ठ संख्या-१४ पर)

